

आगे का रास्ता कहां है?

साझा मंच के सवाल

पिछले छः वर्षों से साझा मंच का प्रयास रहा है कि दिल्ली के वैकल्पिक विकास के बारे में एक स्पष्ट और सार्थक बहस आरम्भ हो। कई घटक संगठनों ने अपने अपने कार्यक्षेत्रों में वैकल्पिक नीतियां भी प्रस्तावित की हैं। जैसे कि अनधिकृत कालोनी और झुग्गी वासियों ने जन पक्षीय आवास नीति तैयार की है, उसी प्रकार आटो रिक्शा और रिक्शा चालकों द्वारा जन परिवहन नीति, कूड़ा बीनने वालों द्वारा कूड़ा प्रबंधन नीति, रेहड़ी पटरी वालों द्वारा वैकल्पिक नियोजन, निर्माण मजदूरों द्वारा निर्माण मजदूर और अनौपचारिक क्षेत्रा अधिनियम, इत्यादि कई योजनायें बनी हैं। पिछले वर्ष नवम्बर 2003 में इन सभी प्रस्तावों का संकलन “दिल्ली किसकी है” के रूप में प्रकाशित भी हुआ। परंतु प्रशासनिक, न्यायिक, और वैधानिक व्यवस्था ने इन सभी कोशिशों के प्रति एक नकारात्मक रवैया ही अपनाया। शायद इसी लिये पिछले वर्ष से साझा मंच बिखरने लगा है। और यह हमें सोचने के लिये मजबूर करता है कि आगे का रास्ता क्या है? शहर के बदलते चेहरे को कैसे रोकें? आपस के तालमेल को कैसे मजबूत करें?

विश्व का अध्ययन

राष्ट्रसंघ द्वारा 2003 में संचालित सर्वेक्षण श्जीम बेंससमदहम वॉसनउेश (“झुग्गियों की चुनौती”) पर आधारित न्यूलेफ्ट रिव्यू पत्रिका में माइक डेविस का छपा आलेख “Planet of Slums” (“झुग्गियों का ग्रह”) इन प्रश्नों पर कुछ रोशनी डालता है। दुनिया के तमाम देशों और शहरों से उपलब्ध आंकड़ों और अध्ययनों को देखते हुए, आलेख में छः मुद्दों को अंकित किया गया है:

1. शहरीकरण

दुनिया भर में शहर की ओर पलायन की रफ्तार बढ़ रही है। हमें नाज़ हो सकता है कि भारत एक ग्रामीण देश है परंतु विश्व की आधी आबादी (320 करोड़) आज शहरों में रहती है और आधी (320 करोड़) गांवों में। गरीब देशों में भी जहां आज 200 करोड़ लोग शहरों में हैं, वहां 10 वर्षों में वह आबादी दुगुनी हो जायेगी (400 करोड़)। और इसमें से केवल एक चौथाई जनता ही बड़े शहरों की तरफ जायेगी, बाकि तीन चौथाई छोटे शहरों में बसेगी जहां नियोजित सुविधाओं की भारी कमी है। अर्थात् झुग्गियों का पैदा होना अनिवार्य है।

2^प अनौपचारिक क्षेत्रा

पहले माना जाता था कि शहर में विकास का इंजन चलता है क्योंकि वहां बड़े उद्योग स्थापित होते हैं जो रोजगार उपलब्ध कराते हैं। परंतु दुनिया भर में अब शहरीकरण की प्रक्रिया उद्योगों से बिछुड़ गई है। इसका मतलब है कि शहर में अब नियमित औपचारिक रोजगार मिलना कम होता जा रहा है। उत्पादन की जगह, धंधों और व्यापार में ठेके पर काम मिलने की प्रथा शुरू हो गई है। इस प्रकार से अनिश्चित, असुरक्षित काम करने के लिये लोग मजबूर हो रहे हैं। महिलायें सबसे अधिक प्रभावित हो रही हैं क्योंकि नये काम की तलाश में वे तहबाजारी, शराब बेचना, कूड़ा बीनना, झाड़ू पोंछा, आया, फुटकर धंधे, और वेश्यावृत्ति जैसे कामों में शामिल हो जाती हैं।

3^प ग्रामीण पलायन

गांवों में नये काम उत्पन्न होने के बजाय पुराने काम भी हाथ से छूट रहे हैं। खेती में मशीनीकरण, सस्ते अनाज की आयात, बड़ी कम्पनियों द्वारा खेती में प्रवेश, गृह युद्ध, सूखा, इत्यादि से परेशान ग्रामीण युवा लगातार शहरों की तरफ भाग रहे हैं। वहां अनौपचारिक क्षेत्रा में वे सस्ता श्रम प्रदान करते हैं और रहने के लिये झुग्गी मिलती है। जहां पूरी दुनिया में शहरी आबादी के एक-तिहाई लोग झुग्गी बस्तियों में रहते हैं, वहां गरीब देशों में तीन-चौथाई शहरवासी मलिन बस्तियों में रहने के लिये मजबूर हैं। पहले ये बस्तियां शहर के केंद्र में होती थीं परंतु अब उन्हें शहर के बाहर वीराने में बसाया जा रहा है।

4^प वैश्वीकरण

आलेख के अनुसार अनौपचारिक क्षेत्रों का विकास, गांवों से पलायन, और झुग्गी बस्तियों का निर्माण – सभी विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा लादी गई नीतियों के परिणाम हैं। उन्हीं नीतियों की वजह से एक तरफ मुद्रास्फीतिकरण, निजीकरण, और आयात को बढ़ावा दिया गया है, जिसके चलते अनाज का बाजारीकरण हुआ है, स्वास्थ्य और शिक्षा सेवायें महंगी हो गई हैं, और सार्वजनिक क्षेत्रों में कटौतियां हुई हैं। दूसरी तरफ सरकारी व्यवस्था के चरमराने से उसकी जिम्मेदारियां या तो निजी कम्पनियों को या उन स्वयंसेवी संस्थाओं को सौंपी जा रही हैं जिनका सरोकार अंतर्राष्ट्रीय अनुदान संस्थाओं से है। इस प्रकार से “स्व-सहायता समूहों” को पैदा किया जा रहा है जो सरकारी सहायता और सेवाओं की मांग न करें।

5^ए स्व-शोषण

“स्व-सहायता” का असली मतलब होता है “स्व-शोषण”। उन्नीसवीं सदी के साम्राज्यवाद में जैसे गरीब देशों के किसानों को बाजार के लिए कपास, गेहूं, नील, गन्ना आदि पैदा करने के लिए मजबूर किया, उसी तरह आज का नव-साम्राज्यवाद शहर के मेहनतकशों को ठेके पर अपना दोहन करने के लिये उकसा रही है। बीसवीं सदी में साम्राज्यवाद ने दुर्भिक्ष और भूमिहीनता को जन्म देकर ग्रामीण विद्रोह को भी पैदा किया, जिसने आगे चलकर स्वतंत्रता की लड़ाई का रूप ले लिया। परंतु इक्कीसवीं सदी के बिखरे हुए शहरी मजदूर के सामने क्या रास्ता है? विश्व में आज 100 करोड़ श्रमिक अनौपचारिक क्षेत्रों में हैं, 10 करोड़ बाल मजदूर हैं – उनका भविष्य क्या होगा?

6^ए परिवर्तन

औद्योगिकरण के जमाने में समाज-चिंतकों की आशा थी कि उद्योग में जो मजदूर साथ मिल कर काम करने लगेंगे, वही साथ मिल कर अपने शोषण के खिलाफ बगावत करेंगे और नये समाज की रचना करेंगे। परंतु जहां उद्योग-बंदी हो रही है वहां बिखरे हुए मजदूर को कैसे एकत्र किया जायेगा? वह तो केवल झुग्गियों में समाहित रह जायेगा और एक प्रकार से बस्तियां “मानवता का गोदाम” बन गई हैं। ऐसी स्थिति में कभी कभी अचानक तीव्र आंदोलन होते हैं जो कुछ समय बाद बिखर जाते हैं। झुग्गिवासी के लिये केवल धर्म का सहारा बच जाता है। बाहरी (अमरीका में भारतीय या अफ्रीकी, और भारत में बिहारी या बंगलादेशी) के फैलाव पर ध्यान और आक्रोष केंद्रित होता है।

दिल्ली का मसला

ऊपर लिखी हुई बातों को पढ़ते पढ़ते पाठक को जरूर लगा होगा “यह तो हमारी बस्ती में भी हो रहा है”! दिल्ली महानगर में हर वर्ष 3 लाख से ज्यादा प्रवासी आते हैं। पिछले वर्षों में उद्योग-बंदी और आधुनिकीकरण के नाम पर रोजगार अनौपचारिक क्षेत्रों में ही बढ़ रहा है, सरकारी नौकरियां ठप्प हैं। झुग्गी बस्ती और अनधिकृत कालोनियों की संख्या लगातार बढ़ रही है, और पुनर्वास बस्तियां शहर से 20.30 किलोमीटर दूर बनाई जा रही हैं। सरकारी सेवाओं को निजी कम्पनियों के सुपुर्द कर दिया जा रहा है और स्वयंसेवी संस्थाओं का जाल शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार इत्यादि में स्व-सहायता का मंत्रा फैला रहा है। याने कि विश्व स्तर पर जो हो रहा है, वह दिल्ली में भी स्पष्ट है। जनता क्या कर सकती है? कैसे वह अपनी आवाज क्षेत्रीय, प्रादेशिक, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बुलंद कर सके?

नर्मदा की सीख

पिछले दो दशकों में नर्मदा घाटी में सक्रिय आंदोलन कई सवाल को लेकर जूझता रहा है। सरदार सरोवर बांध का विरोध करते हुए आंदोलन ने विकास की कल्पना पर भी प्रश्न-चिह्न लगा दिया है। साथ ही कई घटकों का समन्वय करके अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक आंदोलन ने अपनी पहुंच बढ़ाई है। शायद नर्मदा बचाओ आंदोलन और उससे जुड़े राष्ट्रीय जन आंदोलनों के समन्वय से हम कुछ सबक ले सकते हैं। इस संदर्भ में संजय संगवई द्वारा लिखी श्जेम त्पअमत दक स्पमिश् (“नदी और जीवन”) किताब का सहारा ले सकते हैं। यह पुस्तक 2000 में छपी थी परंतु चूंकि संगवई आंदोलन के वर्षों से अभिन्न अंग रहे हैं, इसलिये कई विषयों को समझने का भी मौका मिलता है।

आंदोलन के घटक

सरदार सरोवर और अन्य बांधों के इर्द गिर्द कई सामाजिक गुट हैं जिनका हित या अहित बांध से जुड़ा है। एक तरफ तो वो हैं जो बांध के पक्ष में हैं। उसमें गुजरात सरकार जो कि गुजरात के किसानों की तरफदारी करती है तो शामिल है ही साथ ही गुजरात चेम्बर ऑफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री (व्यापारी और उद्योगपतियों का समूह) ने भी हमेशा बांध का पक्ष लिया है। क्योंकि उनकी नज़र बांध को बनाने के मुनाफे पर और उससे उपजी बिजली पानी पर लगी है। हाल ही में अम्बानी फाउंडेशन, एस्सार पावर, अम्बूजा सिमेंट जैसी ईकाइयों ने बांध को सराहते हुए इशतहार छापा है। अर्च वाहिनी और कच्छ जल संकट निवारण समिति जैसी संस्थाएँ भी इसी आशा को लेकर संगठित हुई हैं कि बांध का पानी उनके पास पहुंचेगा। जाहिर है कि यह गुट नर्मदा बचाओ आंदोलन का विरोध करता आ रहा है।

दूसरी तरफ तीन गुट हैं। पहला गुट उन सम्पन्न किसानों का है जिनको आशंका है कि उनकी तीन-फसली ज़मीन बांध के पीछे डूब जायेगी। 1972 में ही इन किसानों ने नर्मदा बचाओ समिति का गठन किया था, जो 1979 में निमाड बचाओ आंदोलन में परिवर्तित हो गया। दूसरा गुट उन भू-मालिकों का है जो चाहते हैं कि उनका सही पुनर्वास हो। इसमें मिट्टी बचाओ आंदोलन के किसान शामिल हैं जो तवा बांध से पैदा दलदलीकरण से परेशान हैं, और बर्गी बांध विस्थापित एवं प्रभावित संघ के किसान/मछुआरे जो जलाशय में मछली पालन और खुलती ज़मीन पर खेती का हक मांगते हैं। तीसरा गुट उन मज़दूर/वनोपज आधारित श्रमिकों का है जो आदिवासी-बहुल इलाकों में संगठित हुए हैं। श्रमिक संगठन और खेडुत मज़दूर चेतना आंदोलन जैसे संगठनों के माध्यम से वे उचित मज़दूरी, भूमि आबंटन, वनोपज संग्रहण, और व्यापारियों/अधिकारियों के शोषण से मुक्ति के लिये लड़ रहे हैं।

आंदोलन की रणनीति

1987 के बाद से इन तीनों गुटों को क्रमशः नर्मदा बचाओ आंदोलन की छाया में शामिल किया गया। आंदोलन का मुख्य नारा है “कोई नहीं हटेगा, बांध नहीं बनेगा”। अगर इसे गौर से देखा जाये तो यह निमाड के सम्पन्न किसानों की पुकार है। वही 70 के दशक से बांध के खिलाफ खड़े हैं क्योंकि वे अपनी उपजाऊ ज़मीन खोना नहीं चाहते हैं और जानते हैं कि उस ज़मीन के ऐवज में उन्हें उपयुक्त मुआवज़ा नहीं मिल सकता है। आंदोलन ने उनकी मांग को अहमियत देकर न ही उन्हें पूरी तरह से लामाबंद कर लिया है लेकिन साथ ही उनके धन, सामाजिक संगठन, और राजनैतिक पहुंच का फायदा उठाया है।

बांध के हानिकारक असर और पुनर्वास के मुद्दे को उठाकर और “विकास चाहिये, विनाश नहीं” का नारा देकर आंदोलन ने उस गुट को भी आकर्षित किया जो बांध के परिणामों से त्रास्त हैं। इनके बीच से उपजी जीने की गतिविधियों को “वैकल्पिक विकास” की पदवी देकर आंदोलन ने उनका समर्थन पाया है। तीसरे गुट को आंदोलन की श्रंखला में बांधने के लिये आदिवासी अस्मिता का प्रयोग किया गया है। नयी आज़ादी के लिये और शोषण का विरोध करने के लिये आंदोलन आगे बढ़ा है, और “शासनकालों सुन लो आज, हमारे गांव में हमारा राज” जैसे नारों से लोगों में अपनी ताकत का अहसास लगाया है। इस प्रकार से एक बहु-आयामी आंदोलन को “आदिवासी” आंदोलन की संज्ञा दी गई है।

आंदोलन के दांव पेंच

तीनों गुटों को साथ रखने के लिये आंदोलन ने कई सांस्कृतिक नीतियां अपनाई हैं। “नर्मदा माई” की पूरी घाटी की बात करके सभी गुटों की एक समान पहचान बनाई है। साथ ही में विश्व बैंक और बड़े बांध को दानव रूपी विकास का सूचक बताकर एक सामूहिक दुश्मन को खड़ा किया है। आपसी तालमेल को मजबूत करने के लिये हर कार्यक्रम को सांस्कृतिक जामा पहनाया गया है। पदयात्रा को “जन विकास संघर्ष यात्रा” का नाम देना, या सत्याग्रह में “डूबेंगे, पर हटेंगे नहीं” का नारा देना, या सम्मेलन को “संकल्प मेला” कहलाना, और उससे जुड़े गीतों, नाटकों, नृत्यों की रचना करना इन सभी को मिलाकर आंदोलन ने नर्मदा घाटी की एक अलग पहचान बनाई है।

ऐसा करने से आंदोलन को कई फायदे हुए। निमाड़ के सम्पन्न किसान की आर्थिक-राजनैतिक ताकत को झाबुआ/धुले के सीमांत कृषक मजदूर की जुझारू शक्ति का परस्पर सहयोग मिला है जिससे आंदोलन दो दशक तक जीवित रह पाया है। किसान विद्रोह को "आदिवासी" आंदोलन की संज्ञा देकर एक प्राकृतिक धरोहर की कल्पना भी उभारी गई है जिसको राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्वीकृति मिली है। विश्व बैंक और नव-साम्राज्यवाद के शोषण के मुद्दे को उठाकर न सिर्फ केवल अंतर्राष्ट्रीय गठजोड़ को बल मिला है बल्कि स्थानीय आपसी विरोधाभासों के कुछ हद तक शांत किया गया है। और आदिवासी-बहुल इलाकों में जीवनशाला, रेवा के युवा, भजन मंडली, पारम्परिक स्वास्थ्य, पनचक्की, नैसर्गिक खेती इत्यादि "वैकल्पिक" विकास का प्रयोग करके आंदोलन निमाड़ की हरित क्रांति पर प्रश्न चिन्ह लगाने से बच गया है।

दिल्ली का संदर्भ

अंत में विश्वव्यापी प्रक्रियाओं और नर्मदा बचाओ आंदोलन के अध्ययन से दिल्ली के संदर्भ में क्या सीखने को मिलता है ?

- 1^प उद्योग-रहित शहरीकरण तूल पकड़ता रहेगा, अर्थात् झुग्गी बस्तियों में असुरक्षित, अनियमित रोजगार पाने वाली जनता की तादाद बढ़ती जायेगी। इसलिये लड़ाई केवल स्थानीय नहीं, बल्कि विश्व-व्यापी है।
- 2^प बिखरते हुए जन-मानस को धार्मिक प्रवृत्तियों में ही आश्रय मिल रहा है जहाँ वे अपना दुखड़ा रो सकें और काल्पनिक श्विदेशीय (जो उनसे भी ज्यादा पिटा हुआ है) को दोषी ठहरा सकें। इसलिये नये विचारों, नई कल्पनाओं, और नई पहचान की जरूरत है।
- 3^प अगर एक दूसरे का साथ निभाना है तो निम्न विषयों पर ध्यान देना होगा:
 - ◆ प्रधान नारा ऐसा हो जो सबको आकर्षित करते हुए ऐसे समुदाय का सहयोग प्राप्त कर सके जो आर्थिक रूप से सबल हो।
 - ◆ सहयोगी आंदोलन में ऐसे नारे हों जो अन्य समुदायों को आकर्षित कर सकें और उनकी सांगठनिक शक्ति को काम में ला सकें।
 - ◆ एक ऐसे सार्वजनिक दुश्मन को इंगित किया जाये जिसकी नैतिकता पर प्रश्न-चिन्ह लगाया जा सके जो सबको स्वीकार्य हो।
 - ◆ आंदोलन की सांस्कृतिक पहचान ऐसी हो कि राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उसे अन्य आंदोलनों और संगठनों का सहयोग मिल सके।

अब साझा मंच के साथियों के सामने यह सवाल है कि दिल्ली में आगे का रास्ता कैसे टटोला जाये ?

आगे का रास्ता कहाँ है?

साझा मंच के सवाल

पिछले कई वर्षों से दिल्ली के वैकल्पिक विकास के बारे में एक स्पष्ट और सार्थक बहस का प्रयास चल रहा है। कई संगठनों ने अपने अपने कार्यक्षेत्रों में वैकल्पिक नीतियाँ भी प्रस्तावित की हैं। जैसे कि अनधिकृत कालोनी और झुग्गी वासियों ने जन पक्षीय आवास नीति तैयार की है, उसी प्रकार आटो रिक्शा और रिक्शा चालकों द्वारा जन परिवहन नीति, कूड़ा बीनने वालों द्वारा कूड़ा प्रबंधन नीति, रेहड़ी पटरी वालों द्वारा वैकल्पिक नियोजन, निर्माण मज़दूरों द्वारा निर्माण मज़दूर और अनौपचारिक क्षेत्रा अधिनियम, इत्यादि कई योजनाएँ बनी हैं। पिछले वर्ष नवम्बर 2003 में इन सभी प्रस्तावों का संकलन "दिल्ली किसकी है" के रूप में प्रकाशित भी हुआ। परंतु प्रशासनिक, न्यायिक, और वैधानिक व्यवस्था ने इन सभी कोशिशों के प्रति एक नकारात्मक रवैया ही अपनाया। शायद इसी लिये पिछले वर्ष से बहस का प्रयास बिखरने लगा है। और यह हमें सोचने के लिये मजबूर करता है कि आगे का रास्ता क्या है? शहर के बदलते चेहरे को कैसे रोकें? आपस के तालमेल को कैसे मजबूत करें?

विश्व का अध्ययन

राष्ट्रसंघ द्वारा 2003 में संचालित सर्वेक्षण श्जीम बेंससमदहम विसनउेश ("झुग्गियों की चुनौती") पर आधारित न्यूलेफ्ट रिव्यू पत्रिका में माइक डेविस का छपा आलेख श्चसंदमज विसनउेश ("झुग्गियों का ग्रह") इन प्रश्नों पर कुछ रोशनी डालता है। दुनिया के तमाम देशों और शहरों से उपलब्ध आंकड़ों और अध्ययनों को देखते हुए, आलेख में छः मुद्दों को अंकित किया गया है:

2. शहरीकरण

दुनिया भर में शहर की ओर पलायन की रफ्तार बढ़ रही है। हमें नाज़ हो सकता है कि भारत एक ग्रामीण देश है परंतु विश्व की आधी आबादी (320 करोड़) आज शहरों में रहती है और आधी (320 करोड़) गांवों में। गरीब देशों में भी जहां आज 200 करोड़ लोग शहरों में हैं, वहां 10 वर्षों में वह आबादी दुगुनी हो जायेगी (400 करोड़)। और इसमें से केवल एक चौथाई जनता ही बड़े शहरों की तरफ जायेगी, बाकि तीन चौथाई छोटे शहरों में बसेगी जहां नियोजित सुविधाओं की भारी कमी है। अर्थात् झुग्गियों का पैदा होना अनिवार्य है।

2^प अनौपचारिक क्षेत्रा

पहले माना जाता था कि शहर में विकास का इंजन चलता है क्योंकि वहां बड़े उद्योग स्थापित होते हैं जो रोजगार उपलब्ध कराते हैं। परंतु दुनिया भर में अब शहरीकरण की प्रक्रिया उद्योगों से बिछुड़ गई है। इसका मतलब है कि शहर में अब नियमित औपचारिक रोजगार मिलना कम होता जा रहा है। उत्पादन की जगह, धंधों और व्यापार में ठेके पर काम मिलने की प्रथा शुरू हो गई है। इस प्रकार से अनिश्चित, असुरक्षित काम करने के लिये लोग मजबूर हो रहे हैं। महिलायें सबसे अधिक प्रभावित हो रही हैं क्योंकि नये काम की तलाश में वे तहबाजारी, शराब बेचना, कूड़ा बीनना, झाड़ू पोंछा, आया, फुटकर धंधे, और वेश्यावृत्ति जैसे कामों में शामिल हो जाती हैं।

3^प ग्रामीण पलायन

गांवों में नये काम उत्पन्न होने के बजाय पुराने काम भी हाथ से छूट रहे हैं। खेती में मशीनीकरण, सस्ते अनाज की आयात, बड़ी कम्पनियों द्वारा खेती में प्रवेश, गृह युद्ध, सूखा, इत्यादि से परेशान ग्रामीण युवा लगातार शहरों की तरफ भाग रहे हैं। वहां अनौपचारिक क्षेत्रा में वे सस्ता श्रम प्रदान करते हैं और रहने के लिये झुग्गी मिलती है। जहां पूरी दुनिया में शहरी आबादी के एक-तिहाई लोग झुग्गी बस्तियों में रहते हैं, वहां गरीब देशों में तीन-चौथाई शहरवासी मलिन बस्तियों में रहने के लिये मजबूर हैं। पहले ये बस्तियां शहर के केंद्र में होती थीं परंतु अब उन्हें शहर के बाहर वीराने में बसाया जा रहा है।

4^प वैश्वीकरण

आलेख के अनुसार अनौपचारिक क्षेत्रों का विकास, गांवों से पलायन, और झुग्गी बस्तियों का निर्माण – सभी विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा लादी गई नीतियों के परिणाम हैं। उन्हीं नीतियों की वजह से एक तरफ मुद्रास्फीतिकरण, निजीकरण, और आयात को बढ़ावा दिया गया है, जिसके चलते अनाज का बाज़ारीकरण हुआ है, स्वास्थ्य और शिक्षा सेवाएँ महंगी हो गई हैं, और सार्वजनिक क्षेत्रों में कटौतियाँ हुई हैं। दूसरी तरफ सरकारी व्यवस्था के चरमराने से उसकी ज़िम्मेदारियाँ या तो निजी कम्पनियों को या उन स्वयंसेवी संस्थाओं को सौंपी जा रही हैं जिनका सरोकार अंतर्राष्ट्रीय अनुदान संस्थाओं से है। इस प्रकार से “स्व-सहायता समूहों” को पैदा किया जा रहा है जो सरकारी सहायता और सेवाओं की मांग न करें।

5^प स्व-शोषण

“स्व-सहायता” का असली मतलब होता है “स्व-शोषण”। उन्नीसवीं सदी के साम्राज्यवाद ने जैसे गरीब देशों के किसानों को बाज़ार के लिए कपास, गेहूँ, नील, गन्ना आदि पैदा करने के लिए मजबूर किया, उसी तरह आज का नव-साम्राज्यवाद शहर के मेहनतकशों को ठेके पर अपना दोहन करने के लिये उकसा रही है। बीसवीं सदी में साम्राज्यवाद ने दुर्भिक्ष और भूमिहीनता को जन्म देकर ग्रामीण विद्रोह को भी पैदा किया, जिसने आगे चलकर स्वतंत्रता की लड़ाई का रूप ले लिया। परंतु इक्कीसवीं सदी के बिखरे हुए शहरी मजदूर के सामने क्या रास्ता है? विश्व में आज 100 करोड़ श्रमिक अनौपचारिक क्षेत्रों में हैं, 10 करोड़ बाल मजदूर हैं – उनका भविष्य क्या होगा?

6^प परिवर्तन

औद्योगिककरण के ज़माने में समाज-चिंतकों की आशा थी कि उद्योग में जो मजदूर साथ मिल कर काम करने लगेंगे, वही साथ मिल कर अपने शोषण के खिलाफ बगावत करेंगे और नये समाज की रचना करेंगे। परंतु जहाँ उद्योग-बंदी हो रही है वहाँ बिखरे हुए मजदूर को कैसे एकत्रा किया जायेगा? वह तो केवल झुग्गियों में समाहित रह जायेगा और एक प्रकार से बस्तियाँ “मानवता का गोदाम” बन गई हैं। ऐसी स्थिति में कभी कभी अचानक तीव्र आंदोलन होते हैं जो कुछ समय बाद बिखर जाते हैं। झुग्गिवासी के लिये केवल धर्म का सहारा बच जाता है। बाहरी (अमरीका में भारतीय या अफ्रीकी, और भारत में बिहारी या बंगलादेशी) के फैलाव पर ध्यान और आक्रोष केंद्रित होता है।

दिल्ली का मसला

ऊपर लिखी हुई बातों को पढ़ते पढ़ते पाठक को ज़रूर लगा होगा “यह तो हमारी बस्ती में भी हो रहा है”! दिल्ली महानगर में हर वर्ष 3 लाख से ज्यादा प्रवासी आते हैं। पिछले वर्षों में उद्योग-बंदी और आधुनिकीकरण के नाम पर रोज़गार अनौपचारिक क्षेत्रों में ही बढ़ रहा है, सरकारी नौकरियाँ टप्प हैं। झुग्गी बस्ती और अनधिकृत कालोनियों की संख्या लगातार बढ़ रही है, और पुनर्वास बस्तियाँ शहर से 20.30 किलोमीटर दूर बनाई जा रही हैं। सरकारी सेवाओं को निजी कम्पनियों के सुपुर्द कर दिया जा रहा है और स्वयंसेवी संस्थाओं का जाल शिक्षा, स्वास्थ्य, रोज़गार इत्यादि में स्व-सहायता का मंत्रा फैला रहा है। याने कि विश्व स्तर पर जो हो रहा है, वह दिल्ली में भी स्पष्ट है। जनता क्या कर सकती है? कैसे वह अपनी आवाज़ क्षेत्रीय, प्रादेशिक, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बुलंद कर सके?

नर्मदा की सीख

पिछले दो दशकों में नर्मदा घाटी में सक्रिय आंदोलन कई सवालों को लेकर जूझता रहा है। सरदार सरोवर बांध का विरोध करते हुए आंदोलन ने विकास की कल्पना पर भी प्रश्न-चिंह लगा दिया है। साथ ही कई घटकों का समन्वय करके अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक आंदोलन ने अपनी पहुंच बढ़ाई है। शायद नर्मदा बचाओ आंदोलन और उससे जुड़े राष्ट्रीय जन आंदोलनों के समन्वय से हम कुछ सबक ले सकते हैं। इस संदर्भ में संजय संगवई द्वारा लिखी श्जेम त्पअमत ‘दक स्पमिश् (“नदी और जीवन”) किताब का सहारा ले सकते हैं।

यह पुस्तक 2000 में छपी थी परंतु चूंकि संगवई आंदोलन के वर्षों से अभिन्न अंग रहे हैं, इसलिये कई विषयों को समझने का भी मौका मिलता है।

आंदोलन के घटक

सरदार सरोवर और अन्य बांधों के इर्द गिर्द कई सामाजिक गुट हैं जिनका हित या अहित बांध से जुड़ा है। एक तरफ तो वो हैं जो बांध के पक्ष में हैं। उसमें गुजरात सरकार जो कि गुजरात के किसानों की तरफदारी करती है तो शामिल है ही साथ ही गुजरात चेम्बर ऑफ कामर्स एण्ड इंडस्ट्री (व्यापारी और उद्योगपतियों का समूह) ने भी हमेशा बांध का पक्ष लिया है। क्योंकि उनकी नज़र बांध को बनाने के मुनाफे पर और उससे उपजी बिजली पानी पर लगी है। हाल ही में अम्बानी फाउंडेशन, एस्सार पावर, अम्बूजा सिमेंट जैसी ईकाइयों ने बांध को सराहते हुए इशतहार छापा है। अर्च वाहिनी और कच्छ जल संकट निवारण समिति जैसी संस्थायें भी इसी आशा को लेकर संगठित हुई हैं कि बांध का पानी उनके पास पहुंचेगा। ज़ाहिर है कि यह गुट नर्मदा बचाओ आंदोलन का विरोध करता आ रहा है।

दूसरी तरफ तीन गुट हैं। पहला गुट उन सम्पन्न किसानों का है जिनको आशंका है कि उनकी तीन-फसली ज़मीन बांध के पीछे डूब जायेगी। 1972 में ही इन किसानों ने नर्मदा बचाओ समिति का गठन किया था, जो 1979 में निमाड़ बचाओ आंदोलन में परिवर्तित हो गया। दूसरा गुट उन भू-मालिकों का है जो चाहते हैं कि उनका सही पुनर्वास हो। इसमें मिट्टी बचाओ आंदोलन के किसान शामिल हैं जो तवा बांध से पैदा दलदलीकरण से परेशान हैं; और बर्गी बांध विस्थापित एवं प्रभावित संघ के किसान/मछुआरे जो जलाशय में मछली पालन और खुलती ज़मीन पर खेती का हक मांगते हैं। तीसरा गुट उन मज़दूर/वनोपज आधारित श्रमिकों का है जो आदिवासी-बहुल इलाकों में संगठित हुए हैं। श्रमिक संगठन और खेडुत मज़दूर चेतना आंदोलन जैसे संगठनों के माध्यम से वे उचित मज़दूरी, भूमि आबंटन, वनोपज संग्रहण, और व्यापारियों/अधिकारियों के शोषण से मुक्ति के लिये लड़ रहे हैं।

आंदोलन की रणनीति

1987 के बाद से इन तीनों गुटों को क्रमशः नर्मदा बचाओ आंदोलन की छाया में शामिल किया गया। आंदोलन का मुख्य नारा है “कोई नहीं हटेगा, बांध नहीं बनेगा”। अगर इसे गौर से देखा जाये तो यह निमाड़ के सम्पन्न किसानों की पुकार है। वही 70 के दशक से बांध के खिलाफ खड़े हैं क्योंकि वे अपनी उपजाऊ ज़मीन खोना नहीं चाहते हैं और जानते हैं कि उस ज़मीन के ऐवज में उन्हें उपयुक्त मुआवज़ा नहीं मिल सकता है। आंदोलन ने उनकी मांग को अहमियत देकर न ही उन्हें पूरी तरह से लामाबंद कर लिया है लेकिन साथ ही उनके धन, सामाजिक संगठन, और राजनैतिक पहुंच का फायदा उठाया है।

बांध के हानिकारक असर और पुनर्वास के मुद्दे को उठाकर और “विकास चाहिये, विनाश नहीं” का नारा देकर आंदोलन ने उस गुट को भी आकर्षित किया जो बांध के परिणामों से त्रास्त हैं। इनके बीच से उपजी जीने की गतिविधियों को “वैकल्पिक विकास” की पदवी देकर आंदोलन ने उनका समर्थन पाया है। तीसरे गुट को आंदोलन की श्रंखला में बांधने के लिये आदिवासी अस्मिता का प्रयोग किया गया है। नयी आज़ादी के लिये और शोषण का विरोध करने के लिये आंदोलन आगे बढ़ा है, और “शासनकालों सुन लो आज, हमारे गांव में हमारा राज” जैसे नारों से लोगों में अपनी ताकत का अहसास लगाया है। इस प्रकार से एक बहु-आयामी आंदोलन को “आदिवासी” आंदोलन की संज्ञा दी गई है।

आंदोलन के दांव पेंच

तीनों गुटों को साथ रखने के लिये आंदोलन ने कई सांस्कृतिक नीतियां अपनाई हैं। “नर्मदा माई” की पूरी घाटी की बात करके सभी गुटों की एक समान पहचान बनाई है। साथ ही में विश्व बैंक और बड़े बांध को दानव रूपी विकास का सूचक बताकर एक सामूहिक दुश्मन को खड़ा किया है। आपसी तालमेल को मजबूत करने के लिये हर कार्यक्रम को सांस्कृतिक जामा पहनाया गया है। पदयात्रा को “जन विकास संघर्ष यात्रा” का नाम देना, या सत्याग्रह में “डूबेंगे, पर हटेंगे नहीं” का नारा देना, या सम्मेलन को “संकल्प

मेला" कहलाना, और उससे जुड़े गीतों, नाटकों, नृत्यों की रचना करना इन सभी को मिलाकर आंदोलन ने नर्मदा घाटी की एक अलग पहचान बनाई है।

ऐसा करने से आंदोलन को कई फायदे हुए। निमाड़ के सम्पन्न किसान की आर्थिक-राजनैतिक ताकत को झाबुआ/धुले के सीमांत कृषक मजदूर की जुझारू शक्ति का परस्पर सहयोग मिला है जिससे आंदोलन दो दशक तक जीवित रह पाया है। किसान विद्रोह को "आदिवासी" आंदोलन की संज्ञा देकर एक प्राकृतिक धरोहर की कल्पना भी उभारी गई है जिसको राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्वीकृति मिली है। विश्व बैंक और नव-साम्राज्यवाद के शोषण के मुद्दे को उठाकर न सिर्फ केवल अंतर्राष्ट्रीय गठजोड़ को बल मिला है बल्कि स्थानीय आपसी विरोधाभासों के कुछ हद तक शांत किया गया है। और आदिवासी-बहुल इलाकों में जीवनशाला, रेवा के युवा, भजन मंडली, पारम्परिक स्वास्थ्य, पनचक्की, नैसर्गिक खेती इत्यादि "वैकल्पिक" विकास का प्रयोग करके आंदोलन निमाड़ की हरित क्रांति पर प्रश्न चिन्ह लगाने से बच गया है।

दिल्ली का संदर्भ

अंत में विश्वव्यापी प्रक्रियाओं और नर्मदा बचाओ आंदोलन के अध्ययन से दिल्ली के संदर्भ में क्या सीखने को मिलता है ?

1^प उद्योग-रहित शहरीकरण तूल पकड़ता रहेगा, अर्थात् झुग्गी बस्तियों में असुरक्षित, अनियमित रोजगार पाने वाली जनता की तादाद बढ़ती जायेगी। इसलिये लड़ाई केवल स्थानीय नहीं, बल्कि विश्व-व्यापी है।

2^प बिखरते हुए जन-मानस को धार्मिक प्रवृत्तियों में ही आश्रय मिल रहा है जहाँ वे अपना दुखड़ा रो सकें और काल्पनिक शविदेशी (जो उनसे भी ज्यादा पिटा हुआ है) को दोषी ठहरा सकें। इसलिये नये विचारों, नई कल्पनाओं, और नई पहचान की ज़रूरत है।

3^प अगर एक दूसरे का साथ निभाना है तो निम्न विषयों पर ध्यान देना होगा:

- ◆ प्रधान नारा ऐसा हो जो सबको आकर्षित करते हुए ऐसे समुदाय का सहयोग प्राप्त कर सके जो आर्थिक रूप से सबल हो।
- ◆ सहयोगी आंदोलन में ऐसे नारे हों जो अन्य समुदायों को आकर्षित कर सकें और उनकी सांगठनिक शक्ति को काम में ला सकें।
- ◆ एक ऐसे सार्वजनिक दुश्मन को इंगित किया जाये जिसकी नैतिकता पर प्रश्न-चिन्ह लगाया जा सके जो सबको स्वीकार्य हो।
- ◆ आंदोलन की सांस्कृतिक पहचान ऐसी हो कि राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उसे अन्य आंदोलनों और संगठनों का सहयोग मिल सके।

अब सब साथियों के सामने यह सवाल है कि दिल्ली में आगे का रास्ता कैसे टटोला जाये ?